अनित्य भावना

जुगलकिशोर मुख़्तार

अर्थात्

श्रीपद्मनन्द्याचार्य-विरचित 'अनित्यपञ्चाशत्'
हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित

अनुवादक

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

— —

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जि० सहारनपुर

— ※ —

प्रकाशनमें द्रव्यसहायक

ला० छुन्नामल सुन्दरलाल जैन

३६ डिप्टीगंज, देहली

संशोधित और संवर्धित संस्करण

द्वितीयावृत्ति १००० प्रति	जेठ श्रीवीर-निर्वाण सं० २४७० विक्रम सं० २००१ मई १९४४	मूल्य विवेक प्राप्ति

विषय-सूची

मुद्रक—

रामा प्रिंटिंग वर्कस, चावड़ी बाज़ार, देहली

प्राक्कथन

इस ग्रन्थका पहला संस्करण मई सन् १६१४ ई० मे जैनग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय हीराबाग, बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। उसमें हिन्दी पद्यानुवादके कई कई पद्योंको एकसाथ पृष्ठोंके ऊपरी भाग पर मोटे टाइपमें दिया गया था और नीचे तदनुसार मूल संस्कृत पद्यों तथा पद्यांशोंको कुछ बारीक टाइपमें रनिंग (एकमरडा) रूपसे रक्खा गया था। साथ ही फुटनोटों मे पद्यानुवादके कुछ कठिन शब्दोंका अर्थ भी दे दिया गया था। इस संस्करणमें छपाईका यह सब ढंग बदलकर प्रत्येक मूल पद्यको ऊपर मोटे टाइप में रक्खा है, उसके नीचे दूसरे टाइपमें पद्यानुवाद दिया है और तदनन्तर भिन्न टाइपमें भावार्थकी नई योजना की गई है, जिससे हिन्दी पाठकोंके लिये इस ग्रन्थकी उपयोगिता और भी ज़्यादा बढ़ गई है। भावार्थके लगजानेसे अर्थ-विषयक उक्त फुटनोटोंकी आवश्यकता नहीं रही, अतः उन्हें निकाल दिया गया है। साथही, पद्यानुवादका संशोधन और उसकी भाषामें कुछ परिवर्तन भी किया गया है। प्रस्तावनामें भी इतिहासादि-विषयकी कुछ वृद्धि की गई है। इन सब परिवर्तनोंके कारण इस संस्करणमें बहुत कुछ विशेषता आगई है।

बहुत वर्षोंसे पहला संस्करण समाप्त होचुका था, पुस्तक मिलती नहीं थी, जनता की मॉग थी और वह इसके लाभोंसे वंचित होरही थी। यही सब देखकर वीर-सेवा-मन्दिरकी प्रकीर्णक-पुस्तक-मालामें इस ग्रन्थके प्रकाशनकी यह नई योजना की गई है। आशा है यह पाठकोंको विशेष रुचिकर तथा हितकर होगी।

जुगलकिशोर मुख्तार

सप्रेम उपहार

समर्पण

इस ग्रंथका प्रथम संस्करण बाबा भगीरथ जी वर्णीके करकमलोंमें निम्न शब्दोंके साथ समर्पित हुआ था—

"विद्याके प्रेमी, सत्पथानुगामी, गुणग्राही, शान्त-स्वभावी, परोपकारी, ब्रह्मचारी, अष्टमप्रतिमाके अभ्यासी, जैन धर्मके प्रचारमें सविशेषरूपसे उद्यमी, मान्यवर श्रीमान् त्यागी बाबा भागीरथजी वर्णीके कर कमलोंमें—उनके अनेक सद्‌गुणोंमें अनुरक्त अनुवादकके द्वारा—श्री पद्मनन्द्याचार्यकी 'अनित्यपंचाशत्' नामक पुस्तकका यह हिन्दी पद्यानुवाद सादर समर्पित हुआ।"

आज वर्णीजी मौजूद नहीं हैं—ता० २६ जनवरी सन् १९४२ को उनका स्वर्गवास होगया है। अतः ग्रन्थका यह संशोधित और परिवर्धित संस्करण उन्हींकी पुण्य स्मृतिमें सर्वसाधारणकी सेवार्थ समर्पित है।

अनुवादक—

धन्यवाद

श्रीमान् ला० सुन्दरलालजी सुपुत्र ला० छुन्नामल जी जैन मालिक फर्म 'मेसर्स रामजीदास जैनी एण्ड को०' ट्रेज़रर 'पंजाब नैशनल बैंक लिमिटेड' डिप्टीगंज देहलीने, वैद्य ला० मामनसिंहजी प्रेमीकी प्रेरणाको पाकर, अपने पूज्य पिताजी की पुण्य-स्मृतिमें, इस पुस्तकके प्रकाशनार्थ द्रव्यकी सहायता प्रदान की है, जिसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

प्रकाशक

प्रस्तावना

श्रीपद्मनन्दि आचार्यने आजसे कोई ८०० वर्ष पहले 'अनित्यपंचाशत्' को रचकर संसारी जनोंका बड़ा ही उपकार किया है। इष्ट-वियोगादिके कारण कैसा ही शोक-संतप्त हृदय क्यों न हो, इसको एकबार पढ़ लेनेसे बड़ी ही शान्तताको प्राप्त हो जाता है। इसके पाठसे उदासीनता तथा खेद दूर होकर चित्तमें प्रसन्नता और सरसता आजाती है। संसार-देह-भोगोंका यथार्थ स्वरूप मालूम करके हृदयमें विवेक-बुद्धि जाग्रत हो उठती है। संसारीजनोंको उनकी भूल मालूम पड़जाती है और उनमें धैर्य तथा साहसकी मात्रा बढ़जाती है। जो लोग शोक-संतापमें आत्म-समर्पणकर अपने धर्मार्थादिक पुरुषार्थोंको खो बैठते हैं—अकर्मण्य बनजाते हैं—महीनों वर्षों तक रोते-पीटते हैं और इसप्रकार अपने शारीरिक तथा मानसिक बलको क्षति (हानि) पहुँचाकर अपना जीवन, एक प्रकारसे, दुःखमय बना लेते हैं, उनके लिये ऐसे ग्रन्थोंका सत्संग बड़ा ही उपयोगी है—उनकी आत्माओंको उन्नत करने और उनका दुःख दूर करनेमें बड़ा ही सहायक है। ऐसे ग्रन्थ-रत्नोंका सर्वसाधारणमें प्रचार होनेकी बहुत बड़ी आवश्य-कता है। यह ग्रंथ जैन और अजैन सबके ही लिये समानरूपसे हितकारी है।

इस ग्रंथकी भाषा संस्कृत होनेके कारण हमारा हिन्दी समाज अभी तक इसके लाभोंसे प्रायः वंचित होरहा है, यह देख आजसे कोई ४३ वर्ष पहले मेरे अन्तः करणमें इस परमोपकारी ग्रन्थका हिन्दी पद्यानुवाद करनेका विचार उत्पन्न हुआ और उसके फलस्वरूप जो पद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया उसे अर्से बाद मई सन् १९१४ ई०में श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने जैनग्रंथ-रत्नाकर-

कार्यालय बम्बईमें मूल-सहित प्रकाशित किया था। आज यह उसीका संशोधित, कुछ परिवर्तित और भावार्थके साथ संवर्धित संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। इस अनुवादमें मैंने, इस बातका ध्यान रखते हुए कि मूल की कोई बात छूट न जावे, उस भावको लाने की यथाशक्ति चेष्टा की है जो आचार्यमहोदयने मूलमें रक्खा है और साथ ही यह भी खयाल रक्खा है कि अनुवादकी भाषा कठिन न होने पावे। मुझे इसमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, इसका विचार मैं अपने विचारशील पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। किसी ग्रन्थके पद्यानुवाद रूपमें यह मेरी पहली ही कृति है।

यहाँ पर मैं इतना जरूर प्रकट कर देना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थका मेरे जीवन पर खास प्रभाव पड़ा है। इसने शुरूसे ही मेरे जीवनकी धाराको बदला है और मुझे विषय-वासनाके चक्करमें, हर्ष-विषादकी दलदलमें और शोक-मोहके फंदेमें अधिक फँसने नहीं दिया। इसके लिये मैं आचार्य-महोदयका बहुत ही कृतज्ञ और आभारी हूँ। साथही, स्वर्गीय श्रीमान् सेठ हीराचंद नेमिचन्दजी आनरेरी मजिस्ट्रेट शोलापुरका भी हृदयसे आभार मानता हूँ, जिनकी प्रथम प्रकाशित की हुई इस 'अनित्यपंचाशत्' और उसकी संस्कृत टीकाको देखकर मुझे सर्वप्रथम इस पद्यानुवादके करनेकी प्रेरणा मिली।

वीरसेवामन्दिर
सरसावा जि० सहारनपुर

जुगलकिशोर मुख्तार

अनित्य-भावना

अर्थात्

श्रीपद्मनन्द्याचार्य-विरचित 'अनित्यपञ्चाशत्'

हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित

मंगलाचरण

जयति जिनो धृतिधनुषामिषुमाला भवति योगियोधानां ।
यद्वाक्करुणामय्यपि मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥१॥

आर्या छंद [१]

जिनके वचन करुण भी, शरगण हों मोह-शत्रु-नाशनको ।
धैर्य-धनुर्धर-योगी-सुभटोंके जयहु सु-जिनदेव ॥१॥

भावार्थ—जिनके करुणा-दयामय वचन भी मोहशत्रुका विनाश करनेके लिये उन योगि-योद्धाओंके शरगण—बाणसमूह—बन जाते हैं

---

१ इस छंदके चारों चरणोंमें क्रमशः १२, १८, १२, १५ मात्राएँ होती हैं । मूल पद्य भी इसी छंदमें है ।

जो धैर्य-धनुषको धारण किये हुए हैं—अर्थात् जिनके अहिंसा-धर्मात्मक वचनोंका आश्रय लेकर अथवा सम्यक् प्रयोग करके योगीजन अपने मोहशत्रुका नाश कर डालते हैं—वे श्रीजिनदेव—कर्मशत्रुओंका नाश करने वाले श्रीअर्हन्तदेव—जयवन्त हों—भव्यजनोंके हृदयमें सदा ही उनका प्रभाव अंकित रहे।

यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्,
विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोऽभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम् ।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति,
भ्रातः काऽत्र शरीरके स्थितिमतिर्नाशेऽस्य को विस्मयः ॥२॥

नरेन्द्र छन्द [१] (जोगीरासा)

एक दिवस भोजन न मिले या नींद न निशको आवे,
अग्नि-समीपी अम्बुज-दल-सम यह शरीर मुरझावे।
शस्त्र-व्याधि-जलआदिकसे भी क्षणभरमें क्षय हो है,
चेतन! क्या थिर-बुद्धि देहमें? विनशत अचरज को है?॥२॥

भावार्थ—एक भी दिन अगर भोजन नहीं मिलता या रातको नींद नहीं आती तो यह शरीर ऐसे मुरझा जाता—कुम्हला जाता है जैसे कि

---

१ नरेन्द्र छंद मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकारका होता है। मात्रिक में २८ (१६+१२) मात्राएँ होती हैं और अन्तमें दो गुरु अथवा किसी किसीके मतसे एक या तीन गुरु भी होते हैं। और वर्णिकरूप इस छंदका २१ अक्षरोंका निर्दिष्ट है; परन्तु मात्राएँ उसमें भी २८ ही होती हैं और गण उसमें भगण, रगण, नगण, नगण, जगण, जगण और यगण इस क्रमसे होते हैं। प्रस्तुत अनुवादमें इस छन्दका सर्वत्र मात्रिक रूप दिया गया है।

आगके समीप कमलका पत्ता। इसके सिवाय अस्त्र-शस्त्रोंसे, व्याधियों-बीमारियोंसे और जलादिकसे भी यह शरीर शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो जाता है—छिदकर, भिदकर, कटकर, पीडित होकर, विकृत होकर, जलमें डूबकर, अग्निमें जलकर, पवनादिकसे प्रताडित होकर, सर्पादिकसे डसा जाकर, विषसे मूर्च्छित होकर, बिजली पडकर, पर्वतादिके ऊपरसे गिरकर, मलबे में दबकर, श्वासोच्छ्वास रुककर अथवा हार्ट फेल (Heart fail) होकर विकार-ग्रसित हुआ क्षणभरमें क्षयोन्मुख हो जाता है अथवा यों कहिये कि जहाँका तहाँ ढेरी हो जाता है। ऐसे अस्थिर शरीरमें हे चेतन!—विचारवान् भाई! स्थिरताकी बुद्धि कैसी? और इसका नाश होते अचरज कौनसा? इसमें तो स्थिरताकी कोई बात ही नहीं है और न इसके नाश होनेमें आश्चर्यके लिये कोई स्थान ही है।

दुर्गन्धाऽशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा,
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितं।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावह्निना,
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते॥३॥

चर्म-मढी दुर्गन्ध-अशुचिमय—धातु-कुभीत-घिरी है,
क्षुधा-आदि-दुख-मूसक-छिद्रित मल-मूत्रादि-भरी है।
जरत स्वयं ही जरा-वह्निसे काय-कुटी सब जानें,
मूढ़ मनुप हैं इतने पर भी जो थिर-शुचितर मानें॥३॥

भावार्थ—सब जानते हैं कि, यह काय-कुटी दुर्गन्ध और अशुचिमयी धातुओंकी खोटी दीवारोंसे घिरी हुई है, ऊपर चमड़ेसे मढी हुई—ढकीहुई है, मल-मूत्रादिकसे भरी हुई है, क्रीडा करते हुए क्षुधा-तृषादि-दुःखरूप चूहोंसे छिद्रित है—भूख-प्यासादिक-दुःखरूप चूहोंने इसमें मुखादि-रूपसे छेद बना रक्खे हैं—और स्वयं ही यह जरा-अग्निसे जलती रहती है—दिनपर दिन खुद ही जरामें परिणत हुई जीर्ण होती जाती है। इतने

पर भी जो लोग इस काया-कुटीको स्थिर और शुचितर (अति पवित्र) मान रहे हैं वे मूढ़ मनुष्य हैं—मोहके वशीभूत अज्ञानी जन हैं।

अम्भोबुद्बुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा,
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कान्ताऽर्थ-पुत्रादयः।
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्ताङ्गनापाङ्गवत्,
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा ॥४॥

जल-बुद्बुद-सम है तनु, लक्ष्मी इन्द्रजालवत् मानो।
तीव्रपवन-हत-मेघ-पटल-सम धन कान्ता सुत जानो ॥
मत्तत्रियाके ज्यों कटाक्ष त्यों चपल विषय-सुख सारे,
इससे इनकी प्राप्ति-नास्तिमें, हर्ष-शोक क्या प्यारे ? ॥४॥

भावार्थ—यह शरीर जलके बुलबुलेके समान क्षण-भंगुर है। लक्ष्मी इन्द्रजालके सदृश मायामय है—क्षणभरमें अदृश्य हो जाती है। धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, बान्धव और माता-पितादिककी स्थिति उन मेघ-पटलों-जैसी है जो तीव्र पवनसे प्रताडित होकर छिन्न भिन्न हुए देखते देखते विलीन हो जाते हैं। और इन्द्रियोंके विषयसुख उसी प्रकार चंचल हैं जिस प्रकार कि कामोन्मत्त स्त्रीके कटाक्ष होते हैं—उस कामिनीके तिर्यक्-दृष्टि-संचालन (तिरछी निगाहों) की तरह वे भी क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं—,कोई भी विषयसुख स्थिर नहीं—एकके बाद दूसरेकी और दूसरेके बाद तीसरेकी इच्छा बराबर चलती और बदलती रहती है। अतः इन शरीरादिकी प्राप्तिमें हर्ष करनेसे और इनकी नास्तिमें—अभाव अथवा नाश होने पर—शोक करनेसे क्या नतीजा है? कुछ भी लाभ नहीं है।

दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो बुधैः,
सम्बन्धो यदि विग्रहेण यदयं सम्भूतिदाता तयोः।

तस्मात्तत्परिचिन्तनीयमनिशं संसारदुःखप्रदो,
येनाऽस्य प्रभवः पुरः पुनरपि प्रायो न सम्भाव्यते ॥५॥

काया जननी दुःख-मरणकी हुआ योग यदि यासे ,
तो फिर शोक न बुधजन कीजे मरते वा दुख आते ।
आतम-स्वरूप विचारो तब तो नित तज आकुलताई ,
संभव हो न कभी फिर जिस से देह–जन्म दुखदाई ॥५॥

भावार्थ—काया तो दुःख और मरणकी जननी है—दुःख और मरण इसीसे उत्पन्न होते हैं। यदि काया (देह) न हो तो आत्माको दुःख भी न उठाने पड़ें और मरण भी न हो सके। जब कायाके साथ आत्माका सम्बन्ध है तो फिर दुःख अथवा मरणके उपस्थित होने पर, जिनका सम्बन्धावस्थामें होना अवश्यंभावी है, बुधजनोंको शोक नहीं करना चाहिये। प्रत्युत इसके, उन्हें तो नित्य ही निराकुल होकर बहिरात्म-बुद्धिके त्यागपूर्वक आत्मस्वरूपका—अपनी मुक्तिका—विचार करना चाहिये, जिससे दुखदाई देहका पुनः पुनः जन्म ही संभव न रहे।

दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रनष्टे नरे ,
यच्छोकं कुरुते तदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम् ।
यस्मात्तत्र कृते न सिद्ध्यति किमप्येतत्परं जायते ,
नश्यन्त्येव नरस्य मूढमनसो धर्मार्थकामादयः ॥६॥

दुर्निवार-निजकर्म-हेतु-वश इष्ट स्वजन मर जावे ,
जो उसपर बहुशोक करे नर वह उन्मत्त कहावे ।
क्यों कि शोकसे सिद्धि नहीं कुछ, हाँ इतना फल होवे ,
मूढमना वह मानव अपने धर्मार्थादिक खोवे ॥६॥

भावार्थ—अपने पूर्वोपार्जित दुर्निवार कर्मकारणके वशसे—अलंघ्य शक्ति-भावितव्यताके आधीन होकर—यदि अपना कोई इष्ट स्वजन मर जाता है तो उसपर जो मनुष्य अति शोक करता है उसका वह शोक करना उन्मत्तों-जैसी लीलाके समान है और इसलिये वैसा करने वालेको उन्मत्त—पागल समझना चाहिये; क्योंकि शोक करनेसे कोई सिद्धि नहीं होती। हाँ, इतना फल जरूर होता है कि उस शोकाकुल मूढ़ मनुष्यके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों ही पुरुषार्थ नाशको प्राप्त होजाते हैं—शोकावस्था में न धर्म बनता है, न अर्थोपार्जन होता है, न इन्द्रियोंके विषय सधते हैं और न मोक्षकी ही साधना बन सकती है। चारों ही पुरुषार्थोंको वह मूढ़ मानव खो बैठता है।

उदेति पाताय रविर्यथा तथा
शरीरमेतन्ननु सर्वदेहिनाम्।
स्वकालमासाद्य निजे हि संस्थिते
करोति कः शोकमतः प्रबुद्धधीः ॥७॥

होकर उदित सूर्यमंडल ज्यों पा स्व-काल छिप जावे,
देहधारियों का तनु त्यों यह उपजे औ नश जावे।
इससे पाकर जो स्वकाल निज इष्ट स्वजन मर जावे,
उसपर शोक करे को भविजन? जो सुबुद्ध कहलावे ॥७॥ *

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल उदयको प्राप्त होता है और अपना समय पूरा करके अस्त होजाता है—छिप जाता है—उसी प्रकार

* यह मूलका भावानुवाद है, शब्दानुवाद प्रायः यह होसकता है:—

"पतन-हेत रवि ज्यों उगे, त्यों नर देह बखान।
काल पाय हितु नशत को कर है शोक सुजान?"

सर्व प्राणियों का यह देह है जो उपजता है और आयु पूरी होजाने पर विनश जाता है। ऐसी स्थितिके होते हुए यदि काल पाकर अपना कोई प्यारा सम्बन्धी मर जाता है उस पर कौन ऐसा सुबुद्धजन है जो शोक करता है? बुद्धिमान् तो कोई भी शोक नहीं कर सकता, बहिरात्मदृष्टि मूढजन ही शोक किया करते हैं।

भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत्।
कुलेषु तद्वत्पुरुषाः किमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम् ॥८॥

वृक्षनपर उगकर झड़ पड़ते पत्र फूल फल जैसे,
जन्म कुलों में लेकर प्राणी मरण लहैं हैं तैसे।
इस विध नियम अखंडित लखि बुध हर्ष शोक क्या कीजे?
वस्तुस्वरूप विचार हृदय में समता-भाव धरीजे ॥८॥ *

भावार्थ—जिस प्रकार पत्र, फूल और फल वृक्षों पर उत्पन्न होते हैं और निश्चितरूपसे गिरते हैं—झड़ पड़ते हैं—उसी प्रकार प्राणी कुलों-में जन्म लेते हैं और फिर मरणको प्राप्त होते हैं। इस तरह यह अटल नियम देखकर बुधजनोंको जन्म-मरणके अवसरों पर हर्ष-शोक क्या करना चाहिये? नहीं करना चाहिये—उन्हें तो वस्तुस्वरूपका विचार कर हृदयमें समताभाव धारण करना चाहिये।

दुर्लंघ्याद्भवितव्यताव्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे,
यच्छोकः क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्त्तनम्।

---

* यह मूलका भावानुवाद है, शब्दानुवाद प्रायः यह होसकता है—

"हों तरुपर निश्चय गिरें पत्र, फूल फल भ्रात!
त्यों कुलमें नर; सुबुधके हर्ष शोक किम भाँत?"

सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्त्वा महत्या धिया,
निर्धूताखिलदुःखसंततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम् ॥९॥

दुर्निवार-भावी-वश अपना प्रियजन मरण करे जो,
अन्धकारमें नृत्य करे वह उसपर शोक करे जो।
सन्मतिसे सब वस्तु जगतमें नाशवन्त लख भाई!
सब दुखसंतति-नाशक सेवो धर्म सदा मन लाई ॥९॥

भावार्थ—अलंघ्यशक्ति भवितव्यताके वश होकर अपने किसी प्रियजनके मरने पर जो मनुष्य शोक करता है उसका वह शोक करना अन्धकारमें नृत्य करनेके समान व्यर्थ है— उससे किसीको भी कुछ लाभ अथवा आनन्दकी प्राप्ति नहीं होसकती। अतः शोकको छोड़कर विवेकको अपनाना चाहिये और उसके द्वारा यह मानकर कि जगतके सभी *पदार्थ पर्यायदृष्टिसे नाशवान् हैं—कोई भी अपनी एक अवस्थामें सदा* स्थिर रहने वाला नहीं है— उस धर्मका सादर सेवन करना चाहिये जो सारी दुःख-परम्पराका नाशक है।

पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्याऽवसानं यदा,
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्,
सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते ॥१०॥

पूर्व कर्मने जिस प्राणी का अन्त लिखा जब भाई!
उसका अन्त तभी होता है यह निश्चय उर लाई।
छोड़ शोक मरनेपर प्रियके, सादर धर्म करीजे,
दूर गया जब निकल साँप तब लीक पीट क्या कीजे? ॥१०॥

भावार्थ—अपने पूर्वोपार्जित कर्मके द्वारा जिस प्राणीका जिस समय अन्त होना लिखा गया है उसका वह अन्त उसी समय होता है—पहले या पीछे नहीं; इस ध्रुव सत्यको जानकर हे भाई! प्रिय जनके मरने पर शोकको छोड़ और आदरके साथ सुखकारी धर्मका आचरण कर। साँपके दूर निकल जानेपर उसकी लीकको पीटनेसे कोई नतीजा नहीं है—जिस प्रकार लीक पीटनेसे साँप नहीं मरता उसी प्रकार शोक करनेसे वह दुख दूर नहीं होता जिसके लिये शोक किया जाता है।

ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःखहतये व्यापारमातन्वते,
सा मा भूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशाः ।
मूर्खान्मूर्खशिरोमणीननु वयं तानेव मन्यामहे,
ये कुर्वन्ति शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च ॥११॥

दुखनाशनको मूढ़ जगतमें रुदनकर्म विस्तारें,
वह दुख दूर न हो स्वकर्मवश नहिं वे सुख निर्धारें।
उन मूढ़ोंको मूढ़-शिरोमणि हम निश्चित ही मानें;
पाप और दुख-हेतु शोकको स्वजन मरे जो ठानें ॥११॥

भावार्थ—संसारमें जो मूढ प्राणी हैं वे दुखको दूर करनेके लिये रुदनव्यापार—रोनेके कार्यका विस्तार रूप साँपा—करते हैं; परन्तु स्वकर्माधीन वह दुख दूर नहीं होता और न वे उस रुदनसे किसी सुखका अनुभव करते अथवा सुखी बनते है। आचार्य महोदय कहते हैं कि—ऐसे मूढों को हम मूढ–शिरोमणि मानते हैं, जो स्वजनके मरने पर पाप और दुखके कारणीभूत शोकका अनुष्ठान करते हैं—शोक करके असातावेद-नीयरूप पापकर्मका बन्ध करते हैं और जिसके फलस्वरूप आगेको भी दुःखके भागी बनते हैं।

किं जानासि न किं शृणोषि न न किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे,
निःशेषं जगदिन्द्रजालसदृशं रम्भेव सारोज्झितम्।
किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुषपशो! लोकान्तरस्थे निजे,
तत्किञ्चित्कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि ॥१२॥

नहिं जाने क्या नाहिं सुने तू? नहिं क्या सन्मुख देखे?
'कदलीवत् निःसार जगत सब इन्द्रजाल हो जैसे'।
इष्टमरण पर शोक करे क्या? मनुषाकार पशू रे!
जिससे नित्य-परम-सुख पावे वह कुछ तो कर तू रे! ॥१२॥

भावार्थ—हे मनुष्याकारपशु–मूढ प्राणी! क्या तू इतना भी नहीं जानता, नहीं सुनता और क्या प्रत्यक्ष–अपने सामने नहीं देखता कि यह सब जगत् इन्द्रजालके समान मायामय एवं क्षणभंगुर और केलेके खम्भके समान निःसार है? यदि यह सब जानता, सुनता और देखता है तो फिर स्वजनके मरने–परलोकवासी होने पर शोक क्यों करता है? शोक को छोड़कर कुछ ऐसा कार्य कर जिससे नित्य स्थिर रहने वाले परमसुख की प्राप्ति होवे।

जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः,
प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति।
तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति,
पूत्कृत्य रोदिति वने विजने स मूढः ॥१३॥

जो जनमा वह नियत मरे है मृत्यु-दिवस जब आवे,
तीन भुवन में भी तब उसका रक्षक कोइ न पावे।
इससे जो प्रियजनके मरते शोक करें अधिकाहीं,
कर पुकार वे रुदन करें हैं मूढ़ विजन-वन-माहीं ॥१३॥

भावार्थ—जिसने जन्म लिया है वह मृत्युका दिन आने पर निश्चितरूपसे अवश्य ही मरता है, तीन लोकमें भी फिर उसका कोई रक्षक नहीं होता—उसे मौतसे नहीं बचा सकता। अतः जो मनुष्य अपने प्रिय स्वजनके मरने पर शोक करता है वह निर्जन वनमें विलाप करके रोता है—निर्जन वनका विलाप जैसे व्यर्थ होता है वैसे ही उसका वह शोक भी व्यर्थ है, उसपर कोई ध्यान देने वाला नहीं।

इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोगः,
पापेन तद्भवति जीव पुराकृतेन।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं,
पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन ॥१४॥

इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग जो जगमें होते जानो,
पूर्व पापके फल हैं दोनों, यह चेतन! उर आनो।
शोक करे किस हेतु? नाशकर पाप, वृथा मत रोवे,
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योगका जन्म न जिससे होवे ॥१४॥ *

भावार्थ—इस संसारमें इष्टका वियोग और अनिष्टका जो योग होता है वह सब पूर्वोपार्जित पाप कर्मके आधीन होता है—ये दोनों पापके फल हैं। पापकर्म उदयमें आकर इधर प्यारी वस्तुका वियोग करता है और उधर ऐसी साधन-सामग्री जुटाता है जो अपनेको इष्ट न होकर अनिष्ट अथवा दुखकारी होती है। इससे हे चेतन प्राणी! शोक क्या करता है?

---

* मूलका संक्षिप्त अनुवाद इस प्रकार हो सकता है:—

"योग अनिष्ट व इष्टक्षय पूर्वपाप-फल दोय।
शोक करे क्या? पाप नश, जिससे दोहुँ न होंय ॥"

उस पापका नाश कर जिससे आगेको इष्टवियोग और अनिष्टयोग दोनों होने ही न पावें।

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तदा शोकः समारभ्यते,
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यदि।
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि,
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोवशः॥१५॥

इष्ट वस्तुके नष्ट हुए भी शोकारँभ तब कीजे,
यदि हो उसका लाभ, सुयश, सुख अथवा धर्म लहीजे।
चारोंमेंसे एक भी जो न बहु प्रयत्न कर होवे,
वृथा शोक-राक्षस-वश हो तब कौन सुधी सुख खोवे? ॥१५॥

भावार्थ—प्यारी वस्तुके नाश होने पर शोक तो तब करना चाहिये जब शोक करनेसे उस नष्ट हुई वस्तुका लाभ होता हो, सुयशकी प्राप्ति होती हो, सुख मिलता हो अथवा धर्मकी साधना होती हो। इन चारोंमें से एककी भी प्राप्ति यदि बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी न होती हो तो फिर कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो व्यर्थ ही शोक राक्षसके वश होवे—और इस तरह अपना वर्तमान तथा आगामी सुख भी खोबैठे।

एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः,
प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु।
स्थित्वा कुले बत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा,
लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः॥१६॥

एक वृक्षपर आ पक्षी ज्यों करते रयन-बसेरा,
प्रातः उठ सब दश दिश जाते उखड़ जात है डेरा।

त्यों कुलमें स्थिति कर बहु प्राणी मरकर अन्य कुलोंमें-
जा बसते, किस हेतु सुबुध तब शोक करें हृदयोंमें ? ॥१६॥

भावार्थ—जिस प्रकार बहुतसे पक्षी एक वृक्षपर आकर रात्रिको बसते हैं—रयणबसेरा करते हैं—और प्रातःकाल सवेरा होते ही सब उठकर दशों दिशाओंको चले जाते हैं—उनका वह डेरा ही उखड़ जाता है, कोई भी उनमेंसे वहां अवशिष्ट नहीं रहता— उसी प्रकार बहुतसे प्राणी एक कुलमें आकर जमा होजाते हैं, कुछ काल स्थित होकर आगे पीछे मर जाते हैं और अन्यकुलोंमें जाकर जन्म लेलेते—बस जाते हैं। ऐसी वस्तुस्थितिके होते हुए बुधजन तब किसका किस लिये शोक करें?—किसीका भी शोक करना उनके लिये उचित नहीं है।

दुःखव्यालसमाकुलं भववनं जाड्यान्धकाराश्रितं,
तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैर्भ्राम्यन्ति सर्वेङ्गिनः ।
तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं,
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखपदं याति प्रबुद्धो ध्रुवम् ॥१७॥

जडता-तमसे व्याप्त जगतवन, जहँ दुख-गज विचरें हैं,
दुर्गतिगेह-सहाइ-कुपथसे जहँ सब जीव भ्रमें हैं।
तहँ अति निर्मल-ज्ञान-प्रकाशक गुरुवच-दीप जगे हैं,
जिस को पाकर देख सुपथको, सुख-पद सुबुध लहे है ॥१७॥

भावार्थ—यह संसार-वन अज्ञान-अन्धकारसे व्याप्त है, दुःख-रूप व्यालोंसे—दुष्ट हाथियों अथवा सर्पोंसे भरा हुआ है—और उसमें ऐसे कुमार्ग हैं जो दुर्गतिरूप गृहोंको लेजाने वाले हैं और जिनमें पड़कर सभी प्राणी भूले-भटके घूम रहे हैं—भववनमें चक्कर काट रहे हैं। उस वनमें निर्मल ज्ञानकी प्रभासे देदीप्यमान-गुरु- वाक्य रूप—अर्हत्प्रवचनरूप —महान्

दीपक जलरहा है। जो सुबुधजन है वह उस ज्ञानदीपकको प्राप्त होकर और उसके सहारे से सन्मार्गको देख कर सुखपदको—सुखके वास्तविक स्थान (मोक्ष) को—प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

यैव स्वकर्मकृतकालकलाऽत्र जन्तु-
स्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्।
मूढ़ास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय,
शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति ॥१८॥

जो निजकर्मरचित है भविजन! मरण-घड़ी जगमाहीं,
जीव उसीमें मरता निश्चित, पूर्व पिछाड़ी नाहीं।
तौ भी मूरख ठान शोक अति, बहुदुखभागी हो है,
पाकर काल मरे यदि कोई अपना प्रियजन जो है ॥१८॥

भावार्थ—इस संसारमें अपने ही कर्मके द्वारा जो मरण-घड़ी रची गई है उसीमें यह जीव मरता है, उससे पहले या पीछे नहीं। इतने पर भी मूढ़जन अपने किसी स्वजनके काल पाकर मरने पर अत्यन्त शोक करके महान् दुःखके भागी होते हैं—तीव्र असाता वेदनीय कर्म का बन्ध करके दुर्गतिके पात्र बनते हैं और नाना प्रकारके दुःसह कष्ट उठाते हैं।

वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा मधुलिहः पुष्पाच्च पुष्पं यथा,
जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्तं तथा संसृतौ।
तज्जातेऽथ मृतेऽथवा न हि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि,
प्रायः प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥१९॥

तरुसे तरुपर पक्षी, मधुकर ज्यों पुष्पों पर जावें,
त्यों हि जीव भव छोड अन्य भव इस जगमें अपनावें।

इस विध जीवों की अस्थिरता जान सुबुधजन जो हैं,
जन्मत-मरते स्वजनादिकके हर्ष न शोक करें हैं ॥१६॥

भावार्थ—जिस प्रकार पक्षी एक वृक्षसे उड़कर दूसरे वृक्षपर और भौंरे एक फूलसे उड़कर दूसरे फूलपर जा बैठते हैं उसी प्रकार ये जीव संसारमें निरन्तर एक भवको छोड़कर दूसरा भव धारण करते रहते हैं। इस प्रकार जीवो की अस्थिरता—किसी भी एक स्थान पर स्थिर न रहने की परिणतिको जानकर जो सुबुधजन हैं वे प्रायः किसीके भी जन्म लेने-पर हर्ष और मरनेपर शोक नहीं करते हैं।

भ्राम्यत्कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा,
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि,
द्राग्बाल्येऽपि ततोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः ॥२०॥

भ्रमते काल अनन्त जगतमें जीव न नर-भव पावे,
यदि पावे भी तो दुष्कुलमें, अघसे फिर नश जावे।
सत्कुलमें आ गर्भहि विनशै, लेते जनम मरे वा,
बचपनमें नश है, तब वृष पा, क्यों तहँ यत्न करे ना ॥२०॥

भावार्थ—इस संसारमें अनन्तकाल भ्रमण करते हुए भी जीव को मनुष्यताकी प्राप्ति नहीं होती, यदि होती भी है तो दुष्कुलमें, जहां प्राप्त होकर भी पापके कारण वह पुनः नष्ट होजाती है। और यदि सत्कुलमें भी प्राप्त होती है तो या तो जीव गर्भमें ही विलीन होजाता है या जन्म लेते ही मर जाता है और या बचपनमें ही नष्ट होजाता है। इन सब अवस्थाओं में तो धर्मकी प्राप्तिका कोई अवसर ही नहीं होता। अतः जब युवाव-स्थादिकमें अवसर मिले तो उस धर्मकी साधनाके लिये उत्तम प्रयत्न होना चाहिये—उस अवसरको योंही शोकादिकमें न खो देना चाहिये।

स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः,
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति ।
तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने,
प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः ॥२१॥

थिर सतरूप सदा जग भी यह उपजे विनशे ऐसे,
पर्यायान्तर कर क्षण क्षणमें जलदपटल हो जैसे ।
इससे जगमें जन्मत-मरते इष्टजनोंके प्यारो,
हर्ष किये क्या? अहो शोक कर क्या है साध्य? विचारो ॥२१॥

भावार्थ—यह जगत् (द्रव्यदृष्टिसे) सदा सत्स्वरूप तथा स्थिर होते हुए भी (पर्यायदृष्टि से) अवस्थान्तरोंके द्वारा क्षण क्षणमें मेघपटलकी तरह उपजता और विनशता है। अतः—ऐसी वस्तुस्थिति होते हुए–इस संसारमें किसी प्रियजनके जन्म लेनेपर हर्ष करने और मरनेपर शोक करनेसे क्या नतीजा है? कुछ भी नहीं।

लंघ्यन्ते जलराशयः शिखरिणो देशास्तटिन्यो जनैः,
सा वेला तु मृतेर्नपक्ष्मचलनस्तोकापि देवैरपि ।
तत्कस्मिन्नपि संस्थिते सुखकरं श्रेयो विहाय ध्रुवं,
कः सर्वत्र दुरन्तदुःखजनकं शोकं विदध्यात्सुधीः ॥२२॥

सागर-पर्वत-देश-नदोंको मनुज लाँघकर जावें,
मरण-घड़ीको पलकमात्र भी देव न लँघने पावें ।
इससे मरते किसी स्वजनके श्रेय त्याग सुखकारी,
सदा घोर दुखदाइ-शोकको कौन करे मतिधारी? ॥२२॥

भावार्थ—समुद्रों, पर्वतों, देशों और बड़ी बड़ी नदियोंको मनुष्य लाँघकर चले जाते हैं, परन्तु मृत्युकी वेलाको—मरणघड़ीको—पलकके झपकने मात्र भी लाँघने-टालनेके लिये देवता भी समर्थ नहीं होते हैं। अतः किसी स्वजनके मरनेपर कौन सुधीजन है जो सुखकर पुण्यको—धर्माचरणको—छोड़कर सदा घोरदुःखदायक शोकका अनुष्ठान करता है? सुधीजन तो कोई भी शोक नहीं कर सकता—मूढ़ जन ही शोक किया करते हैं।

आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे,
जाते यच्च मुदं तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम्।
यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रबन्धोदया-
न्मृत्यूत्पत्तिपरम्परामयमिदं सर्वं जगत्सर्वदा ॥२३॥

स्वजन मरेपर जगमें मानव-गण जो अति बिललावें,
जन्मेमोद करें तिहिं गणधर बातुलता बतलावें।
कारण, जड़ता-दुश्चेष्टार्जित-कर्म-प्रबन्ध-उदयसे,
जन्म-मरण-परिपाटी-मय है यह सब जगत सदा से ॥२३॥

भावार्थ—इस संसारमें स्वजनके मरनेपर मनुष्यगण जो अति विलापके साथ रुदन करते हैं और जन्म लेनेपर आनन्द मनाते हैं उसको गणधरदेव पागलपन बतलाते हैं; क्योंकि अज्ञानता और दुश्चेष्टाओंसे उत्पन्न हुआ जो कर्मप्रबन्ध उसके उदयसे यह सब जगत सदासे जन्म और मरणकी परम्पराको प्राप्त है—इसमें नवीनता, असाधारणता अथवा अद्भुत घटनाके घटित होने जैसी कोई बात नहीं है, जो हर्ष-शोकका विषय बननेके योग्य हो। बिना किसी कारण विशेषके यों ही महसा हर्ष-शोकमें प्रवृत्त होना पागलपनका लक्षण है।

गुर्वी भ्रान्तिरियं जडत्वमथवा लोकस्य यस्माद्वसन् ,
संसारे बहुदुःखजालजटिले शोकीभवत्यापदि ।
भूतप्रेतपिशाचफेरवचितापूर्णे स्मशाने गृहं,
कः कृत्वा भयदादमंगलकृताद्भावाद्भवेच्छंकितः ॥२४॥

बड़ी भ्रान्ति यह जग-जीवोंकी अथवा जड़ता मानें,
बहुदुख-जाल-जटिल जगमें बस आपदि शोक जु ठानें ।
भूत-प्रेत-चिति- फेरु-अमंगल—पूरित मरघट माहीं—
करके घर, भयदाइ वस्तुसे को शंके मन माहीं ? ॥२४॥

भावार्थ—यह जगतके जीवोंकी बड़ी भ्रान्ति अथवा जडता है कि बहुविध-दुःखोंके जालसे जटिल संसारमें वास करते हुए भी आपदा (मुसीबत) के आने अथवा दुःखोंके समुपस्थित होने पर शोक करते हैं। ऐसा कौन विवेकी मनुष्य है जो भूत, प्रेत, पिशाच, शृगालों और चिता जैसी वस्तुओं-से परिपूर्ण स्मशान भूमि–मरघटमें घर बनाकर रहना अंगीकार करके भी भयदायक तथा अमंगलकारी पदार्थोंसे शंकित होता है ? कोई भी नहीं होता। जो होता है उसे जिस प्रकार भ्रान्ति अथवा जडताके वशीभूत समझना चाहिये उसी प्रकार संसारमें बसने वालोंको भी आपत्तिके समय शोक करनेपर समझना चाहिये। अन्यथा, उन्हें संसारका वास छोड़ना चाहिये, जो स्मशान–भूमिके तुल्य है और जहाँ सर्वत्र दुःखोंके जाल फैले हुए हैं। परन्तु इस तरफ कोई प्रयत्न देखनेमें नहीं आता और इसलिये संसारमें रहते हुए मरणादिकके प्रसंगों पर शोकयुक्त होना उनकी भ्रान्तचित्तता अथवा जडताका ही सूचक है।

भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदङ्गी,
लभत उदयमस्तं पूर्णतां हीनतां च ।
कलुषितहृदयः सन् याति राशिं च राशे-,
स्तनुमिह तनुतस्तत्कोऽत्र मुत्कश्च शोकः ॥२५॥

नभमण्डलमें चन्द्र भ्रमे ज्यों त्यों जगमें नित प्राणी,
गति उदयाऽस्त लहै वा त्यों ही हानी वृद्धि बखानी ।
अथवा राशीसे राशीको गमन करे शशि जैसे,
तनु तज तनु धारे कलुषित जिय, हर्ष-शोक फिर कैसे ? ॥२५॥

भावार्थ—आकाशमें जिस प्रकार चन्द्रमा भ्रमण करता है और उदय-अस्त तथा हानि-वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार ये देहधारी प्राणी भी इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं और हानि-वृद्धिको प्राप्त होते हैं । अथवा जिस तरह चन्द्रमा मेष आदि एक राशिसे दूसरी राशिको जाता है उसी तरह ये कलुषित-हृदय संसारी प्राणी भी एक देह छोड़कर दूसरी देह धारण करते हैं । संसारकी ऐसी स्वाभाविक स्थितिमें हर्ष-शोकसे क्या नतीजा है ?—कुछ भी नहीं ।

तडिदिव चलमेतत्पुत्रदारादिसर्वं,
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य,
व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नूनम् ॥२६॥

विद्युत्सम क्षणभंगुर सुत-दारादिक यह सब जानें,
नशते उनके खेद करें क्या ? जो नर चतुर सयाने ।
उपजन-विनशन-थितिधारण यह शील सभी द्रव्यों का,
अग्नि-शील ज्यों उष्णपना है, नहि इसमें कहुँ धोका ॥२६॥

भावार्थ—स्त्री-पुत्रादिकके रूपमें जो भी कुटुम्ब-परिवार है वह सब बिजलीके समान क्षण-भंगुर है—उसमें स्वभावसे ही चलाचली लगी रहती है। ऐसी स्थिति होते हुए यदि उसका कोई प्राणी उठकर चल देता है—एक दम शून्यमें विलीन अथवा अदृश्य होजाता है—तो उसपर सयाने-बुद्धिमान मनुष्य भी किस बातका खेद करते हैं, यह कुछ समझमें नहीं आता! उपजना, विनशना और स्थिर रहना (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) यह तो सभी द्रव्योका उसी प्रकार स्वभाव है जिस प्रकार कि अग्निका उष्णपना स्वभाव है। इसमें कभी व्यभिचार नही आता—ज़रा भी फर्क नही पड़ता और न धोके की कोई बात है। पर्यायो की अपेक्षा जीवके निरंतर ही उपजना-विनशना लगा रहता है और द्रव्यकी अपेक्षा सदा ध्रौव्यपना बना रहता है। अतः पर्याय-परिवर्तनको देखकर खेद करना बुद्धिमानीका चिन्ह नहीं है—निरा मोहका परिणाम है।

प्रियजनमृतिशोकं सेव्यमानोऽतिमात्रं,
जनयति तदसातं कर्म यच्चाग्रतोऽपि।
प्रसरति शतशाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं,
वट इव तनुबीजं त्यज्यतां सप्रयत्नात् ॥२७॥

मृत्यु-शोकसे इष्टजनोंके उपजे कर्म असाता,
उसकी फिर शतशाखा फैलें देहीमें दुखदाता।
छोटासा वट-बीज खेतमें बोया ज्यों भविप्राणी!
बहु-विस्तार धरे त्यों, यह लख शोक तजो अघखानी ॥२७॥

भावार्थ—इष्ट जनों की मृत्यु पर अतीव शोक करनेसे भारी असातावेदनीय कर्म उत्पन्न होता है, जिसकी फिर इस देहधारीमें सैंकड़ों दुखकी दाता शाखाएँ उसी प्रकार फैलती हैं जिस प्रकार कि खेतमें बोया हुआ

छोटा-सा बड़का बीज शाखा-प्रशाखादिके रूपमें बहुत विस्तारको धारण करता है। अतः शोकको प्रयत्न—पूर्वक त्यागना चाहिये—वह पापकी खान अथवा दुखःपरम्पराका मूल है।

आयुः क्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गताः,
सर्वे जनाः किमेकः शोचयत्यन्यं मृतं मूढः ॥२८॥
यो नात्र गोचरं मृत्योर्गतो याति न यास्यति।
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान् ॥२९॥

क्षण-क्षणमें जो आयू छीजे वह यम-मुख सब जानें,
उसमें गत सब जीव, एक फिर अन्य-शोक क्यों ठाने? ॥२८॥
जो यम-गोचर है न जगतमें, हुआ कभी नहीं होवे।
वह ही शोभे मृतक-शोक कर, अन्य वृथा ही रोवे ॥२९॥

भावार्थ—क्षणक्षणमें जो आयुका क्षय होता है वह यम-मुख है। उस यम-मुखमें—कालके गालमें—सभी प्राणी गये हुए हैं—सभीकी आयु प्रतिक्षण छीजती है; तब एक प्राणी दूसरे का शोक क्यों करता है? वास्तवमें तो जो प्राणी इस जगतमें यमके गोचर—कालका ग्रास—नहीं है, न कभी हुआ और न होगा वही मृतकका शोक करके शोभाको प्राप्त हो सकता है। अन्य कोई भी मनुष्य शोक करके शोभा नहीं पासकता।

प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोहलक्ष्मी—
मनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः
यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां,
वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु ॥३०॥

पहले ऊँचा चढ़कर दिनकर अपना तेज प्रकाशे,
उस ही दिन पुन नीचे उतरे स्वीय पतन अवभासे।
यह लख कौन मनुज हैं जिनके उरमें शोक बसे है ?
पर्यायोंकी पलटन होते, सकल विवेक नसे है ॥३०॥

भावार्थ—जो सूर्यदेवता उदय होकर पहले ऊँचा चढ़ता और अपना तेज प्रकाशता हुआ अपनी उचताकी शोभाका अनुभव करता है वही सूर्यदेव उसी दिन नीचे उतरता है और अपने पतनका अनुभव करता है, यह देखकर कौन मनुष्य है जिनके हृदयमें पर्यायोंकी अलटन-पलटन होते हुए शोक वसता है और विवेक स्थान नहीं पाता ? ऐसे अविवेकी मनुष्य वास्तवमें मनुष्य कहलानेके पात्र नहीं।

आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्या,
भूपृष्ठ एव शकट प्रमुखाश्चरन्ति ।
मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति,
सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः ॥३१॥

शशि सूरज औ' पवन खगादिक नभमें ही विचरें हैं,
गाड़ी घोड़ा आदिक थलचर भूपर गमन करें हैं ।
मीनादिक जलमें हि चलें, यम सर्व ठौर विचरे है,
मुक्ति विना किस थान जीवके रक्षा-यत्न सरे है ? ॥३१॥

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा, पवन और पक्षी आदिक आकाशमें ही विचरते हैं, गाडी-घोडा आदिक भूमि पर चलते हैं और मीनादिक (जलचर जीव) जलमें ही गति करते हैं; परन्तु यमकी गति सर्वत्र है। संसारमें ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ जीवोंके लिये यमसे—कालसे—बचनेका प्रयत्न सफल (कारगर) होसकता है ? कोई भी स्थान ऐसा नहीं है—मुक्ति-

को प्राप्त किये बिना कोई भी जीव चाहे जितने उपाय करके भी कालकी पहुँच और उसके आघातसे कहीं पर बच नहीं सकता।

किं देवः किमु देवता किमगदो विद्यास्ति किं किं मणिः,
किं मन्त्रः किमुताश्रयः किमु सुहृत्किं वा सुगंधोऽस्ति सः।
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये,
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥३२॥

कर्म-उदयके सन्मुख क्या हैं देव देवता भाई?
वैद्य-मन्त्र-औषध क्या कर हैं, मणि-विद्या-चतुराई?
त्यों हैं मित्र-नृपादिक-आश्रय तीन लोकके माहीं;
ये सब मिलकर भी कर्मोदय टारन समरथ नाहीं ॥३२॥

भावार्थ—कर्मोंके उदयके सामने देव-देवता क्या चीज़ हैं? वैद्य, मंत्र और औषध क्या कर सकते हैं? मणि, विद्या और चतुराई किस काम आसकती है? और भी मित्र, बान्धव, आश्रय तथा राजादिक भी क्या बना सकते हैं? क्योंकि ये सब मिलकर भी तीन लोकमें कहीं भी इस जीवके स्वसमय पर हुए कर्मोदयको टालनेमें समर्थ नहीं है। अतः यह समझकर कि कर्मोदयके सामने किसीका भी कुछ वश नहीं चल सकता, इष्टवियोग और अनिष्टयोगके प्रसंगोंपर शोक नहीं करना चाहिये।

गीर्वाणा अणिमादिसुस्थमनसः शक्ताः किमत्रोच्यते,
ध्वस्तास्तेऽपि परम्परेण सपरस्तेभ्यः कियान् राक्षसः।
रामाख्येन च मानुषेण निहितः प्रोल्लंघ्य सोऽप्यम्बुधिम्,
रामोऽप्यन्तकगोचरः समभवत्कोऽन्यो बलीयान्विधेः ॥३३॥

अणिमादिक ऋद्धी-धारक क्यों देव समर्थ बखानें ?
ध्वस्त हुए जब वे रावण से, तिहि बल भी क्या मानें ?
राम मनुजने जिसको मारा, लाँघ अम्बुराशी को ;
हुआ राम भी वह यम-गोचर, विधिसे अन्य बली को ? ॥३३॥

भावार्थ—अणिमादिक ऋद्धियोंके धारक देवोंको क्या समर्थ समझें जबकि वे रावणके द्वारा ध्वस्त हुए ? उस रावण राक्षसका भी क्या बल मानें जिसे राम नामके मनुष्यने समुद्रको लाँघकर मारा ? और वह राम भी जब कालके गोचर हुआ तब विधिसे—कर्मोदयसे—अन्य बलवान कौन है ? कोई भी नहीं, यह स्पष्ट है ।

सर्वत्रोद्‌गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं,
मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः ।
कालव्याध इमान्निहन्ति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दय-
स्तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोऽपि नो कश्चन ॥३४॥

व्याप रहा है शोक-दवानल इस भववनके माहीं,
मूढ़लोक-मृग नारि-मृगीमें लीन वहीं निवसाहीं ।
कालव्याध निर्दयी सदा पा, सन्मुख इन सबको ही,
मारे, नहिं शिशु तरुण वृद्ध भी उससे बचता कोई ॥३४॥

भावार्थ—इस संसारवनमें सर्वत्र शोक-दावानल व्याप्त हो रहा है-चारों ओर दुःख-शोककी अग्नि दहक रही है—इतनेपर भी मूढलोगरूपी मृग स्त्रीरूपी मृगीमें आसक्त—लीन हुए वहीं निवास कर रहे हैं ! उन्हें काल-व्याधका कुछ पता ही नहीं । निर्दय काल—व्याध इन सब मृग-मृगियोंको सन्मुख पाकर मार डालता है । कालसे बच्चा, जवान और बूढ़ा कोई भी बच नहीं पाता—सभीको कालके गालमें जाना पड़ता है ।

सम्पच्चारुलतः प्रियापरिलसद्वल्लीभिरालिंगितः,
पुत्रादि-प्रियपल्लवो रतिसुखप्रायैः फलैराश्रितः ।
जातः संसृतिकानने जनतरुः कालोग्रदावानल-
व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा बत बुधैरन्यत्किमालोक्यते ॥३५॥

लक्ष्मी-चारुलता-युत वनिता-बेलालिंगित जानो,
पुत्रादिक प्रिय पत्र तथा रति-सुख-फल-सहित प्रमानो।
यों उपजा भववनमें जनतरु, काल-दवानल से जो,
व्याप्त न होतो अन्य और क्या बुधजन अवलोकें जो ॥३५॥

भावार्थ—इस संसार-वनमें लक्ष्मीरूप सुन्दर लतासे युक्त, वनितारूप सुशोभित बेलसे आलिंगित, पुत्रादिकरूप प्रिय पत्रोंसे मंडित और प्रायः रति-सुखरूप फलोंसे आश्रित बना हुआ जो यह पुरुष-वृक्ष उत्पन्न हुआ है वह जब तक काल-दावानलसे व्याप्त नहीं होता—उसमें कालाग्नि नहीं खेलती—तब तक बुधजन और क्या देख रहे हैं, यह कुछ समझमें नहीं आता! जो देखनेकी चीज़ बनी हुई है उसीकी जब शीघ्र दुर्दशा होने वाली है और इसलिये जो मन लगाने की वस्तु नहीं रहती तब दूसरी ओर कौन सुन्दर तथा स्थिर रहने वाली वस्तु है, जिस पर मनको लगाया जाय? यह बुद्धिमानों को सोचना चाहिये। और इसलिये उन्हें इधर-उधरकी शोभा के निरखने और अग्निकाण्डोंपर खेद व्यक्त करनेमें न लगे रहकर अपनी ओर देखना चाहिये, अपने स्वरूपका विचार करना चाहिये और शीघ्र ही इस भववनसे निकल भागनेका भारी प्रयत्न करना चाहिये, जहाँ काल-दावानल खेल रहा है और सबको भस्म किये डालता है। अथवा उक्त वृक्ष-जैसी सुसम्पन्न दशाको पाकर भी और अधिक तृष्णामें न [illegible]ना चाहिये, उसे ही ग़नीमत—सन्तोषके योग्य—समझकर अपने आत्महितकी [illegible]नाका प्रयत्न करना चाहिये। और कालदावानल-द्वारा भस्म होनेसे पहले ही

अपनी उस सर्वसम्पदाको लोकसेवाके लिये अर्पण करके यशोधर्मके भागी बनना चाहिये, जिसे अन्यथा कालाग्निकी भेंट चढना ही है।

वाञ्छन्त्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते,
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुवं,
दुःखोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधियः संसारघोरार्णवे ॥३६॥

वाँछें हैं सुख मनुज जगतमें, कर्म दिया पर पावें,
मरण अवश्य लहें हैं तौ भी उससे सब भय खावें।
यों इच्छा-भय-लीन-चित्त हो व्यर्थ मोहवश प्राणी—
दुःख-लहर-युत भवसमुद्रमें पड़ें कुमति-अगवानी ॥३६॥

भावार्थ—इस संसारमें मनुष्य निरन्तर सुखकी चाह (इच्छा) रखते हैं परन्तु मिलता है वही जिसे विधि—अपना पूर्वोपार्जित कर्म—देता है। संसारमें सभीको मरना है—कोई भी उस अवश्यंभावी मरणसे बच नहीं सकता— फिर भी लोग उससे भय खाते हैं—मरणका नाम सुनकर भी थर २ काँपने लगते हैं। इस प्रकार व्यर्थकी इच्छा और भयमें लीन चित्त होकर मूढ प्राणी मोहके वश उस घोर संसार-समुद्रमें पडते हैं जो दुःखरूप लहरोंसे व्याप्त है—अर्थात् पापकर्मके बन्धद्वारा अपना संसार बढ़ाते हुए अधिकाधिक दुख उठाते हैं।

स्वसुखपयसि दीव्यन्मृत्युकैवर्तहस्त-
प्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं,
भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥३७॥

इन्द्रियसुखजलमें क्रीड़त नित जगत-सरोवर-माहीं;
यम-धीवर-कर-प्रसृत चमके जरा जाल जहँ भाई !
उसमें फँसकर लोकरूप यह दीन-मीन-समुदाई,
निकटप्राप्त भी घोर आपदाओंको देखत नाहीं ॥३७॥

भावार्थ—इस संसार-सरोवरमें यम-धीवरके हाथसे फैलाए हुए चमकीले जरा—जालमें फँसकर भी यह लोकरूप दीन-हीन—मीनोंका समूह अपने इन्द्रिय-सुख-जलमें क्रीडा करता रहता है और निकटमें ही प्राप्त होने वाले घोर आपदाओंके चक्रको नहीं देखता, यह बड़े ही खेदका विषय है ! अर्थात् वृद्धावस्था प्राप्त होजाने पर भी जो इन्द्रिय-विषय-सुखोंमें मग्न रहते हैं उनकी दशा बडी ही खेदजनक है ! ऐसे लोग जालमें फँसकर क्रीड़ा करते हुए मीनोंकी तरह शीघ्र ही घोर आपदाओंको प्राप्त होते हैं ।

शृण्वन्नन्तकगोचरं गतवतः पश्यन् बहून् गच्छतो,
मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्यं परं ह्यात्मनः ।
संप्राप्तेऽपि च वार्द्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय यत्
तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसकृत्पुत्रादिभिर्बन्धनैः ॥३८॥

सुन गतजीवोंको यमगोचर, लख बहुतों को जाते,
आत्मस्थिरता मानें जो नर वे मोही कहलाते ।
वृद्धावस्था प्राप्त हुए भी जो न धर्म चित लावें,
अधिक अधिक वे पुत्रादिक बंधनसे आत्म बँधावें ॥३८॥

भावार्थ—गत जीवोंको कालके गाल गये सुनकर और बहुतोंको अपने सामने कालके गालमें जाते (मरते) हुए देखकर भी जो लोग अपनेको स्थिर मान रहे हैं उसका कारण एकमात्र मोह है—और इसलिये ऐसे लोग मोही कहे जाते हैं । वृद्धावस्था प्राप्त होने—बुढापा आजानेपर भी जो लोग

धर्ममें चित्त नहीं लगाते वे पुत्र-पौत्रादिक बन्धनोंसे अपने आत्माको और ज्यादा ज्यादा बँधाते रहते हैं। ऐसे लोगोंका बन्धन-मुक्त होना बड़ा ही कठिन कार्य हो जाता है।

दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं दुःसन्धिदुर्बन्धनम्,
सापायस्थितिदोषधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम्।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो यच्चात्र चित्रं न तत्
तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि यन्मृग्यते ॥३६॥

निबल-सन्धि-बन्धनयुत तनु अघकर्म-शिल्पि-निर्मित जो,
मलदोषादिभरा औ' नश्वर विनशत बार न जिस को।
आधि-व्याधि जर-मरणादिक यदि हों तो चित्र यहाँ को ?
अचरज है बुधजन भी तनुमें अवलोकें स्थिरताको! ॥३६॥

भावार्थ—निर्बल सन्धियों (जोडों) और निर्बल बन्धनोंसे युक्त यह शरीर पापकर्मरूप शिल्पकारका रचा हुआ है, मल-मूत्रादिसे भरा है, वात-पित्त-कफादि-दोषोंसे घिरा है, हड्डी आदि कुधातुओंसे निर्मित है और साथ ही नाशवान् है, अपाय सहित स्थितिको लिये हुए है—इसके विनशते विघटते जरा भी देर नहीं लगती। ऐसे शरीरमें यदि आधि—व्याधियाँ उत्पन्न होवें—मानसिक तथा शारीरिक वेदनाएँ अपना अड्डा जमावें—और जरा-मरणादिकका संचार होवे तो इसमें आश्चर्यकी कोई भी बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होता है जब बुधजन भी इस शरीरमें स्थिरताकी खोज करते हैं—इसके प्रति स्थिरताकी-सदा एक रूप बना रहनेकी-भावनाएँ बना लेते हैं।

लब्धा श्रीरिह वांछिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधिः,
प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः स्वर्गेऽपि ये दुर्लभाः ।
पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विषा–
श्लिष्टं भोज्यमिवातिरम्यमपि धिङ्मुक्तिः परं मृग्यताम् ॥४०॥

सागरान्त–भू भोगी, वाँछित लक्ष्मी जगमें पाई,
पाये वे रमणीय विषय हैं सुरदुर्लभ जो भाई !
पर पीछे आवेगी मृत्यू, इससे वे सब प्यारो !
विष-मिश्रित-भोजन-सम धिक् हैं. मुक्ति-मार्ग अवधारो ॥४०॥

भावार्थ—इस जगतमें मनोवांछित लक्ष्मी पाई, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को भोगा—उसपर राज्य किया—और वे अति मनोहर–रमणीय विषय प्राप्त किये जो स्वर्गमें देवताओंको भी दुर्लभ हैं; परन्तु इन सबके अनन्तर (मृत्यु) मौत आवेगी । अतः ये सब विषय भोग—जिनमें हे आत्मन् तू रच-पच रहा है और जिनमें इष्टवियोगादिकरूपसे ज़रा भी बाधा उपस्थित होने पर तू हाहाकार करने लगता है—विषमिश्रित भोजनके समान धिक्कारके योग्य हैं । अर्थात् जिस प्रकार विष मिला हुआ भोजन खाते समय स्वादिष्ट मालूम होने पर भी अन्तमे प्राणों का हरण करने वाला होनेसे त्याज्य है उसी प्रकार ये विषय–सुख भी सेवन करते समय अच्छे मालूम होते हुए भी अन्तमें दुर्गतिका कारण होनेसे त्यागनेके योग्य हैं । अतः इनमें आसक्ति-का त्याग करके मुक्तिके मार्गपर लगना चाहिये, जिससे फिर वियोगादि-जन्य कष्ट न उठाना पड़ें ।

युद्धे तावदलं रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशम्,
मंत्राः शौर्यमसिश्च तावदतुलाः कार्यस्य संसाधकाः ।
राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना यावज्जिघत्सुर्यमः,
क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नो विधेयो बुधैः ॥४१॥

रणमें तब तक समरथ रथ गज अश्व, वीर गर्वी हैं;
मंत्र पराक्रम खड्ग तभी तक साधक कार्य सभी हैं।
जब तक भूखा भक्षण-इच्छुक निर्दयकाल जु मानो,
होकर कुपित न दौड़े सन्मुख; पूव यत्न बुध! ठानो ॥४१॥

भावार्थ—राजाके भी युद्धमें हाथी घोड़े और रथ उसी वक्त तक समर्थ हैं, वीर-योद्धा उसीवक्त तक गर्व धारण करते हैं और मंत्र पराक्रम तथा खड्ग भी उसीवक्त तक कार्यके संसाधक हैं जबतक कि भूखा भक्षण-इच्छुक निर्दयी काल कुपित होकर सामने नहीं दौड़ता है—विकराल कालके सामने आते ही सबके कार्योंमें शिथिलता आजाती है। अतः कालके सम्मुख आनेसे पहले ही बुधजनोंको इधर अपने आत्महितके साधनेका कुछ यत्न कर लेना चाहिये—कालके साक्षात् सम्मुख आजाने और उसके द्वारा शीघ्र ही कवलित होने की नौबत उपस्थित हो जाने पर तो फिर कुछ भी नहीं बन सकेगा।

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रंकायते निश्चितम्,
सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोऽप्याशु क्षयं गच्छति।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्री-जीविते द्वे तयोः,
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वाऽन्यत्र कार्यो मदः ॥४२॥

राजा भी क्षणमें विधि-वशसे अवश रंक हो जावे,
सर्वव्याधिसे रहित तरुण भी शीघ्र नाशको पावे।
औरोंसे क्या? साररूप जो धन जीवन दो जानो,
उनकी ऐसी स्थिति जगमें बुध! तब किसमें मद ठानो ॥४२॥

भावार्थ—इस संसारमें विधिके वशसे—पूर्वोपार्जित कर्मके आधीन हुआ—राजा भी क्षण भरमें रंक होजाता है और सर्वरोगोंसे रहित तरुण-

हट्टाकट्टा नौजवान—भी शीघ्र ही नाशको प्राप्त होजाता है; औरोंकी तो बात ही क्या? जब संसारमें साररूपसे माने जाने वाले धन और जीवन दोनोंकी ही ऐसी क्षणभंगुर स्थिति है तब बुधजनोंको किसे पाकर मद करना चाहिये?—कहीं भी उनके मदके लिये स्थान नहीं है, विधिके चक्करमें पड़ कर दमभरमें सारे मदका चकनाचूर होजाता है।

हन्ति व्योम स मुष्टिनात्र सरितं शुष्कां तरत्याकुल—
स्तृष्णार्तोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन्।
प्रोत्तुंगाचलचूलिकागतमरुत्प्रेंखत्प्रदीपोपमै—
र्यः सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥४३॥

मुट्ठीसे वह व्योम हने या शुष्क नदी तिरता है,
व्याकुल हो वा मत्त तृषातुर हो मरीचि पीता है।
ऊँचे पर्वतशिखर पवनसे कम्पित-दीप-समानी,
धन-कान्ता-सुत-आदिकमें मदकर नर जो है मानी ॥४३॥

भावार्थ—धन, स्त्री और पुत्रादिकी हालत उन दीपकोंके समान है जो ऊँचे पर्वतकी चोटीपर रक्खे हुए पवनसे काँप रहे हैं और दम भरमें बुझ जानेकी स्थितिमें हैं। ऐसे क्षणभंगुर धनादिकको पाकर जो मनुष्य घमण्ड करता है—अभिमानी बन रहा है—वह प्रायः पागल हुआ मुक्का-घूसा मारकर आकाश को हनना चाहता है! व्याकुल हुआ सूखी नदीको तिरनेकी चेष्टा करता है! और प्याससे पीडित हुआ मृगमरीचिकाको पीनेका उद्यम करता है!! ये सब कार्य जिस प्रकार व्यर्थ हैं और इन्हें करने वाले किसी भी मनुष्यके पागलपनको सूचित करते हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-धनादिकको पाकर अहंकार (गर्व) करना भी व्यर्थ है और वह अहंकारीके पागलपनको सूचित करता है।

लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीवचपलामाश्रित्य भूपा मृगाः,
पु (भ्रा) त्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल ।
सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुः संलग्नसंहृच्छरं,
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥४४॥

व्याध-मृगी चपला-लक्ष्मीको भूपतिमृग अपनाई,
पु (भ्रा)त्रादिक अन मृगन क्रोधसे मारें ईर्षा लाई ।
आपद्-धनुष-भयंकर-सज्जित और तीर ताने जो,
कुपितरूप सन्मुख आया भी काल-व्याध न लखें वो ॥४४॥

भावार्थ—भूपतिरूप मृग अतीव चंचला लक्ष्मीरूप व्याध-मृगीको अपनाकर—अपने आश्रयमें करके—भाई-पुत्रादिरूप अन्य मृगोंके साथ ईर्षा भाव धारण करते हुए उन्हें अति क्रोधके साथ मारते हैं, और ऐसा करते हुए वे उस काल-व्याधको सन्मुख आया हुआ भी नहीं देखते हैं जो तीर चढ़ाकर खींचे हुए आपद्रूप भयंकर धनुषसे सज्जित है और साक्षात् क्रोधकी मूर्ति बना हुआ है—अर्थात् उस चंचला लक्ष्मीके मोहमें फँसकर, जो काल व्याधकी मायामय-मृगी है और कभी किसीकी नहीं होसकती, ईर्षासे दूसरोंका संहार करते हुए अपने निकटतम प्राप्त मरणका भी ज़रा ख़याल नहीं करते हैं, यह बड़े ही खेदका विषय है !!

मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृत्,
नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषाः पुनर्निश्चितम् ।
दुःखं वर्द्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः,
पापं रुक्च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घसंसारिता ॥४५॥

मोही होकर इष्टमरण पर शोक करे जो प्राणी,
लाभ न उसको रंचमात्र, पर विपुल सहै वह हानी।
दुःख बढ़े, धर्मादि नशें औ' मति-विभ्रम हो जावे,
पाप रोग कुमरण पुन दुर्गति, जो जग-भ्रमण करावे ॥४५॥

भावार्थ—जो प्राणी अपने इष्ट स्वजनके मरने पर शोक करता है उसके उस शोक करनेमें गुणकी गंध भी नहीं, किन्तु बहुतसे दोषोंका होना सुनिश्चित है—अर्थात् शोक करनेसे उसको रंचमात्र भी लाभ नहीं होता, उल्टी भारी हानि उठानी पड़ती है। (वह हानि संक्षेपमें इसप्रकार है–) उसका दुख बढ़जाता है–घटता नहीं; धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका नाश होजाता है—शोकदशामें कोई भी पुरुषार्थ उससे नहीं बनता, बुद्धि भ्रष्ट होजाती है, पाप उत्पन्न होजाता है, रोग सताते हैं और कुमरण होजाता है, जिसके फलस्वरूप दुर्गतिकी प्राप्ति होकर संसार-परिभ्रमण बढ़ जाता है।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः।
कस्त्रस्यति लंघनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥४६॥

यह जग है सब दुःख-सदन जब यहाँ बसेरा ठाना,
दुःखोंसे किस हेतु सुजन तब चित अपना अकुलाना।
जो अपना घर बांध रहे हैं मनुज चतुष्पथमाहीं,
लंघनके भयसे तब कैसे वह शंके मनमाहीं? ॥४६॥*

* मूलका संक्षिप्त भावानुवाद इस प्रकार होसकता है–

दो०—"विपतमयी जगमें सुजन! क्या विषाद दुखमाहिं?
लँघनसे भय को करै? कर घर चतुपथ-माहिं"

भावार्थ—यह संसार सब दुःखमय है—दुःखोंका घर है, जब यहाँ रहना-बसना ठान लिया है तब दुःखोंके सामने आने पर अपने चित्तको किसलिये आकुल—व्याकुल करता है? चित्तमें आकुलता—व्याकुलता लानेसे कोई नतीजा नहीं। यदि कोई मनुष्य चौराहेमें अपना घर बनाकर रहता है तो वह फिर इस बातसे क्यों डरता है कि मेरे घर को लोग लाँघ कर जाते हैं? चौराहे वाले घरका जनतासे लँघा जाना जिस प्रकार अनिवार्य और उससे भयखाना बेकार है उसी प्रकार संसारवासका दुःखोंसे आक्रान्त होना अनिवार्य और उनसे भय खाना निरर्थक है। जिसे संसारके दुःखोंसे भय मालूम होता है उसे संसारका वास छोड़ना चाहिये, छोड़नेकी तरफ असली कदम बढ़ाना चाहिये—मोक्षके मार्ग पर लगना चाहिये। अन्यथा, दुःख आनेपर रोना-चिल्लाना बुद्धिमानीका कोई कार्य न होकर पागलों—जैसी चेष्टा कहा जायगा।

वातूल एष किमु किं ग्रहसंग्रहीतो,
भ्रान्तोऽथवा किमु जनः किमथ प्रमत्तः।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि,
विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्यम् ॥४७॥

क्या उसको वातूल कहें या भूताविष्ट बखानें?
भ्रान्तचित क्या उसको जानें वा उन्मत्त प्रमानें?
जोवनादिको विद्युत्-सम चल जो देखे औ' जाने,
कानोंसे अपने पुन सुन है, तोहु न निजहित ठाने ॥४७॥

भावार्थ—जो मनुष्य यह जानते, देखते और सुनते हुए भी कि जीवनादिक—स्त्री पुत्र मित्र बान्धव और धनादिक—बिजलीके समान चंचल हैं—कोई भी इनमें स्थिर रहने वाला नहीं है—अपना कार्य—अपने आत्म-हितकी साधना नहीं करता है—मोहमें फंसा हुआ इन्हींसे आसक्त बना रहता है-उसे पागल कहें, ग्रह-पीडित (भूत लगा) समझें अथवा भ्रान्तचित्त

नाम देवें, कुछ समझमें नहीं आता! हाँ, इतना जरूर कह सकते हैं कि उसकी प्रवृत्ति इन्हीं पागलादि-जैसी है और इसलिये उसे इनमेंसे चाहे जो कहा जासकता और समझा जासकता है।

दत्तं नौषधमस्य नैव कथितः कस्याप्ययं मंत्रिणो,
नो कुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्तरस्थे निजे।
यत्ना यान्ति यतोऽङ्गिनः शिथिलतां सर्वे मृतेः सन्निधौ,
बन्धाश्चर्मविनिर्मिताः परिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥४८॥

'हा! मैं इस को औषध नहीं दी, मांत्रिकको न दिखाया!'
इस विध शोक न करना बुधजन! स्वजन तजे जब काया।
कारण, काल-समीप मनुजके शिथिल यत्न सब होवें,
जल-सिंचित दृढचार्मिक बन्धन ज्यों ढीले पड़जावें ॥४८॥

भावार्थ—विवेकी मनुष्योंको अपने किसी इष्टस्वजनके परलोक-यात्रा करने-देहके त्यागनेपर इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये 'कि हा! मैं ने इसे अमुक दवाई नहीं दी, अमुक मंत्रवादी स्यानेको नहीं दिखाया;' क्योंकि जब किसीका काल समीप आता है तो मनुष्यके प्रयत्न—उपाय—उसी प्रकार शिथिल होजाते हैं जिस प्रकार कि जलसे सिंचित होने पर चमड़ेके दृढ़ बन्धन ढीले पड़जाते हैं—उससमय किसीकी भी कोई तदबीर बनती अथवा चलती नहीं है। और इसलिये उक्त प्रकारकी बातोंका विचार करके पछताना और शोक करना व्यर्थ है। समझना चाहिये ऐसी ही होनहार (भवितव्यता) थी।

स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा,
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृति वने।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदम्,
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणम् ॥४९॥

कालादिक पा तेजयुक्त जो कर्मसिंह बलधारी,
उससे पकड़ा शरणरहितभव-वनमें जन अविचारी।
'मेरी भार्या मेरा धन-गृह मेरा सुत-परिवारा,'
अज-सुतसम यों 'मेमे' करता मरण लहे बेचारा ॥ ४६॥

भावार्थ—जिस प्रकार निर्जन वनमें व्याघ्रसे पकड़ा हुआ बकरी का बच्चा 'मे मे' करता हुआ अपने प्राण दे देता है—कोई भी उस समय उस बेचारेका शरण-सहायक अथवा उसकी पुकारको सुननेवाला रक्षक वहाँ नहीं होता, उसी प्रकार इस शरण-रहित संसारवनमें यह अविचारी (अविवेकी) मनुष्य प्राणी जब अपने उस पूर्वोपार्जित कर्मरूप सिंहसे पकड़ा जाता है जो उदयकालादिको पाकर महातेजस्वी एवं पराक्रमी होता है तब यह भी मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरा धन और मेरा यह घर इत्यादिरूपसे 'मे मे' (मेरा मेरा) करता हुआ मरणको प्राप्त होजाता है—कोई भी उस समय उसका शरण-सहायक अथवा उसकी पुकारको सुननेवाला रक्षक नहीं होता, सब निरुपाय हुए खड़े खड़े देखते ही रहजाते हैं। और काल उसे क्षण भरमें कवलित कर डालता है। ऐसी असहाय-दशामें किसीके वियोग पर शोक करना व्यर्थ है।

दिनानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना,
विहन्यमानस्य निजायुषो भृशम्।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः,
स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जडः ॥५०॥

यमसे अतिशय पीडित अपनी आयु सभी जन जानो,
दिन हैं गुरुतर खण्ड उसीके, यह निश्चय उर आनो।
उनको नित निज सन्मुख खिरते लखकर भी जो प्राणी,
अपनेको स्थिर मान रहा है वह क्यों नहिं अज्ञानी? ॥५०॥

भावार्थ—यह सुनिश्चित है कि अपनी आयु यमसे अति ही-पीडित है—कालसे बराबर हनी जा रही है—और दिन उसके बड़े बड़े खण्ड हैं। इन खण्डोंको निरन्तर अपने सामने खिरते—टूट टूटकर गिरते और इस-तरह आयुका विनाश होते—देखकर भी जो मनुष्य अपने को स्थिर-अमर मान रहा है—निरन्तर कालके गालमें चले जानेका जिसे खयाल ही नहीं होता वह कैसे अज्ञानी नहीं है? अवश्य ही अज्ञानी है—जड़बुद्धि है।

कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेपीन्द्रचन्द्रादयः,
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुषः।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं वृथा मा कृथाः
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किञ्चिदन्विष्यताम् ॥५१॥

इन्द्र-चन्द्र-आदिक भी निश्चय काल-गाल जब जावें,
निर्बल-जन-अल्पायु-कीटसमकी क्या बात बतावें?
इससे स्वजन-मरण पर भविजन मोह वृथा मत कीजे।
काल न तनुमें खेले जिससे शीघ्र आतम लख लीजे ॥५१॥

भावार्थ—जब इन्द्र और चन्द्रादिक भी निश्चितरूपसे कालके गालमें चले जाकर प्रलयको प्राप्त होजाते हैं तब कीड़ेके समान निर्बल और अल्पायु अन्य जनकी तो बात ही क्या है? उसका यदि क्षण-भरमें मरण हो जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। अतः अपने प्रियजनके मरने पर वृथा ही मोहमय शोक न करना चाहिये, किन्तु शीघ्र ही उस तत्त्वकी खोज कर लेनी चाहिये—अपने आत्मस्वरूपको पहचान कर उसमें स्थिर होजाना चाहिये—जिससे काल अपने शरीरमें खेलने न पावे—उसका दुर्गतिगमनादिरूप कोई दुष्परिणाम न होने पावे।

संयोगो यदि विप्रयोगविधिना चेज्जन्म तन्मृत्युना,
सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा दुःखेन भाव्यं ध्रुवम्।

संसारेऽत्र मुहुर्मुहुर्बहुविधावस्थान्तरप्रोल्लसद्-
वेषान्यत्त्वनटीकृताङ्गिनि सतः शोको न हर्षः क्वचित् ॥५२॥

जो संयोग वियोग-सहित वह जन्म मृत्यु-युत मानो,
संपत विपदासे, सुख दुखसे, निश्चय भाव्य सुजानो।
बार बार गति-जाति-अवस्था धर बहुविध जगमाहीं,
जीव नचैं, नहिं हर्ष-शोक तब, कबहूँ सन्त-मन-माहीं ॥५२॥

भावार्थ—जो संयोग है वह वियोगको साथमें लिये हुए है—जिसका जिसके साथ संयोग हुआ है उन दोनोंका एक न-एक दिन एक दूसरे से बिछुडना अवश्यंभावी है, जन्मके साथ मृत्यु लगी हुई है—जो जनमता है वह एक न एक दिन मरता जरूर है, संपदा विपदासे घिरी हुई तथा सुख दुखसे व्याप्त है, और ये जीव संसारमें नाना प्रकारकी गति-जाति-आदि अवस्थारूप वेषोंको धारण करके नाच रहे हैं। यह देखकर सन्तजनोंके मन में कभी भी हर्ष या शोक नहीं होता है—संसारकी इस स्थितिका विवेक ही उन्हें हर्ष-शोकमें आत्म समर्पण करने नहीं देता।

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः,
कुर्यात्सा भवितव्यताऽऽगतवती तत्तत्र यद्रोचते।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान्बहून्,
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम् ॥५३॥

अपने हितकी चिन्ता निशदिन लोक करें मनमाहीं,
पर भावी-अनुसार होत सब, इसमें संशय नाहीं।
इससे फैले तीव्र-मोह-वश बहुविकल्पके त्यागी,
रागद्वेष-विष-रहित सदा सुखमें तिष्ठे बड़भागी ॥५३॥

भावार्थ—संसारके प्राणी दिनरात अपने हितकी चिन्तामें लगे रहते हैं, पर होता है वही जो भावीको रुचता है—जिसे भवितव्यता उपस्थित होकर अपने विधानके अनुसार करती है। अतः तीव्रमोहके वश जो बहुत विकल्प फैले हुए हैं उनका त्याग करनेवाले वे सत्पुरुष ही सुखमें रहते हैं जो राग-द्वेषरूप विषसे रहित हैं। राग और द्वेषका विष बड़ी बेचैनी उत्पन्न करता है, कभी निराकुल नहीं होने देता और इसलिये इस जीवको सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो पाती। जो रागद्वेषको जीतते हैं वे सहज ही मोहपर विजय प्राप्त करते हैं, उनके मोहजन्य सारे विकल्प-जाल छूट जाते हैं और इस तरह वे विषम-स्थितिसे छूटकर स्वयं सुख-शान्तिकी सम-स्थितिमें आजाते हैं—निराकुलता-मय सुखका अनुभव करने लगते हैं।

लोका ! गृहप्रियतमासुतजीवितादि-
वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तम् ।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे,
धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः ॥५४॥

भविजन ! यह घर नारी सुत औ' जीवन आदिक जानो,
पवन-प्रताडित-ध्वजा-वस्त्रसम चंचल सकल बखानो।
छोड़ धनादिक मित्रोंमें यह मोह महा-दुखदाई,
'जुगल' धर्ममें प्रीति करो अब अधिक कहें क्या भाई ॥५४॥

भावार्थ—हे भव्यजनों! यह घर, स्त्री, पुत्र और जीवन-धन आदिक सब उसी प्रकारसे चंचल हैं जिस प्रकार कि पवनसे प्रताडित हुआ ध्वजा-वस्त्रका अग्रभाव सदा चंचल रहता है—इनमें कोई भी वस्तु स्थिर अथवा सदा एक रसरूप रहने वाली और इसलिये मन लगाने की चीज़ नहीं है। अतः इन धन, स्त्री, पुत्र और मित्रादिकमें मोहको—आसक्तिको—जो महा दुखदाई है, छोड़कर धर्ममें चित्तको लगाओ—मुनि और श्रावकके

भेदसे उभय प्रकारके धर्ममें अनुरागको बढ़ाओ। इससे अधिक अब और क्या कहें?—यह सबका सार है।

पुत्रादिशोकशिखिशान्तकरी यतीन्द्र-
श्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः।
सद्बोधशस्य-जननी जयतादनित्य-
पंचाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः ॥५५॥

पद्मनन्दि-मुनि-मुखजलधरसे उपजी बुध-हितकारी,
पुत्र-मित्र-भार्यादि-शोक-आताप मिटावन हारी।
अमृतवृष्टि, सुबोध-धान्यकी 'जुगल' जन्मदातारी,
जयवन्ती वर्तो जगमें यह अथिर-भावना प्यारी ॥५५॥

भावार्थ—यह अनित्यभावना श्रीपद्मनन्दि मुनिराजके मुखरूप मेघ (बादल)से उत्पन्न हुई वह अमृतवृष्टि—अमर रसकी वर्षा—है, जो पुत्र मित्र भार्या तथा धनादिकके शोकजन्य आतापको मिटाने वाली और सम्यग्ज्ञान-रूप धान्यको उपजाने वाली है। अतः बुधजनोंके लिये हितरूप यह 'अनित्य-भावना' जगतमें सदा ही जयवन्ती रहे—जगतके जीव इसे प्राप्त करके सदा ही अपने शोक-संतापको मिटाते हुए आत्मामें सम्यग्ज्ञानको उगाने-जगाने में समर्थ होवें, ऐसी अनुवादक जुगलकिशोरकी आन्तरिक भावना है।